

राष्ट्रवाद और हिन्दू अज्ञान परंपरा

शंकर शरण

Indian Knowledge
System



11-13 मार्च 2026

www.nayaindia.com

‘इंडियन नॉलेज सिस्टम’ का तोतारटंत तमाशा

11 मार्च 2026

कई बरसों से अकादमिक संस्थानों में ‘इंडियन नॉलेज’ विमर्श पर दिखता दृश्य शोचनीय है। इस में जानने, पढ़ने के बदले दूसरों को दूषने और रटी-रटाई दुहराने की आदत बढ़ रही है। इस की कतई कोई कैफियत या सफाई नहीं हो सकती और यह हानिकारक है।

‘इंडियन नॉलेज’ पर आयोजित सेमिनार में वक्ता यदि मैक्स म्यूलर को गालियों से सजा रहा हो, तो विद्यार्थी क्या सीखेंगे? यह उनकी ज्ञान-पिपासा को गंदा पानी देना है। अधिकांश आयोजनों में ढेरों निराधार बातें कही जाती हैं। वह भी तोतारटंत तमाशे जैसी। मानो कोई जंगम थियेटर जगह-जगह एक ही नाटक कर रहा हो।

उस में ज्ञान गौण दिखता है। केवल ‘इंडियन’, बल्कि उसके नाम पर संकीर्ण ठसक रहती है। फिर ‘इंडियन’ शब्द भी दलीय दिखता है। आखिर इंडियन तो वे विद्वान या नेता भी हैं जो दलबंदी से दूर या अन्य दलों से हैं। किन्तु वे इस पूरे अभियान से बाहर रखे गये हैं, चाहे किसी विषय के बड़े ज्ञाता ही क्यों न हों।

इतिहास, राजनीति, साहित्य, दर्शन, आदि विषयों के सच्चे जानकारों का भी किसी को पता नहीं। वे हैं, विलुप्त हो चुके, या उनका कोई मतलब भी है? हर कहीं एक्टिविस्ट प्रचारक हावी दिखते हैं, और सारी गतिविधि मजे से चल रही है। इस नाम पर विश्वविद्यालयों, अकादमियों में बरसों से जो हो रहा है, उसे देख कर किसी सच्चे लेखक, शिक्षक का दिल बैठ जाएगा!

कोई देखे कि उन गतिविधियों में क्या ‘इंडियन’, कौन सा ‘नॉलेज’, या देसी ‘सिस्टम’ है? पहले तो, **ज्ञान किसी देश का होता ही नहीं। उसे खोजने, देने वाले द्रष्टा, कवि, लेखक पूरी मानवता के होते हैं: ‘स्वदेशे पूज्यते राजा, विद्वान सर्वत्र पूज्यते।’ क्योंकि ज्ञान का प्रकाश भी सूर्य के प्रकाश की तरह सर्वत्र समान है।** जैसे सूर्य को ‘देसी’ सीमा में देखना मूर्खता है, वैसे ही ज्ञान को भी। इसीलिए उपनिषद से लेकर प्लेटो, शेक्सपीयर, या आज के एआई तक पूरी मानवता के प्रति समदर्शी हैं। तभी न एआई, न उपनिषद को किसी प्रोपेगंडा की जरूरत है। उनकी मूल्यवत्ता स्वतः जगजाहिर है।

इसीलिए, किसी ‘नॉलेज’ को ‘इंडियन’ बताकर उछल-कूद बचकाना है। तब आप को ‘अमेरिकन’ या ‘ब्रिटिश’ नॉलेज भी चिन्हित करना होगा, जिस से ही आज हमारा लगभग संपूर्ण जीवन चलता है, न कि इंडियन नॉलेज से। बिजली, रेलवे, मोटरकार, एयरप्लेन, प्रिंटिंग प्रेस, मोबाइल, आधुनिक घर-फ्लैट, टॉयलेट, डाइनिंग टेबल, चाय, केक, बर्थ-डे, कोट-सूट, शर्ट-पैंट, स्कर्ट, सिनेमा, अखबार, करेंसी, इंटरनेट, यूपीआई, उबेर, फेसबुक, यूट्यूब, क्रिकेट,

फुटबॉल, बैडमिंटन, क्लब, पार्क, या फिर कैंटीले तार, राइफल, बम, मिसाइल, टैंक, तथा संविधान, पेनल कोड, नागरिक समानता, स्थाई कर्मचारी तंत्र, प्रतियोगी परीक्षाएं, सुप्रीम कोर्ट, और चालू कैलेंडर, सन्डे ऑफ तक ... इन तमाम खोजों, साधनों, निर्माणों, व्यवस्थाओं, रीतियों में 'इंडियन' नॉलेज क्या है? सभी की सभी पर 'ब्रिटिश', 'जर्मन', 'अमेरिकन', 'रोमन', आदि टैग लगाना होगा अर्थात् भौतिक जीवन के लिए आवश्यक संपूर्ण बाह्य ज्ञान पर!

वैसा न करने पर 'इंडियन' और 'फॉरेन' का अंतर कैसे होगा? कैसा बचकानापन कि किसी नॉलेज को 'इंडियन' तो बताएं, परन्तु अन्य नॉलेज का 'जर्मन' या 'रोमन' होना गोल कर दें! मापदंड एक होगा। उदाहरणार्थ, **'हिस्टरी' ज्ञान ही ग्रीक देन है। भारत में यह कभी था ही नहीं! आखिर, हिन्दुओं में अतीत-बोध न होना, पिछली गलतियों से न सीखना, बार-बार एक ही गलती दुहराना, तथा काल्पनिक बातों, लनतरानियों, जुमलों से प्रेम रखना अनायास नहीं है।**

वैसे भी, जो एक नाम तक 'इंडियन' न बना सके — मूल नाम रखा 'इंडियन नॉलेज सिस्टम!' उसका हिन्दी अनुवाद किया: 'भारतीय ज्ञान परंपरा', जबकि 'सिस्टम' और 'परंपरा' बिलकुल भिन्न पद हैं — वे आगे क्या करते होंगे?

ज्ञान का ध्यान हो तो बिना किसी आडंबर केवल मूल्यवान पुस्तकों को चालू सिस्टम में, यानी स्कूल-कॉलेज, सर्विस कमीशन, आदि के सिलेबस में जोड़ देना पर्याप्त है! विषय और कक्षा स्तर के अनुकूल महान पुस्तकों, उसके अंशों, पाठों के चयन का काम सच्चे विद्वान और जानकार कर दे सकते हैं। फिर, परीक्षाओं को गुणवत्ता पूर्ण बना देना। तब ज्ञानार्जन स्वतः बढ़ जाएगा।

पर ज्ञान का प्रसार, बच्चों-युवाओं को विवेकवान, चरित्रवान बनाना उद्देश्य नहीं लगता। उद्देश्य है: छाती ठोकना, हाँकना, अन्य दलों या निर्दलीयों को कोसना, लांछित करना, एवं विदेशियों पर कीचड़ उछालना। इसीलिए, पूरी गतिविधि एक दल-परिवार के हवाले दिखती है, ताकि कोई जानकार या विद्वान भी दलीय स्वार्थ और ऊल-जुलूल फैलाने में अड़चन न बने।

यह सब कितना लज्जाजनक व हानिकारक है, यह समझने वाले नेता भी देश में शायद नहीं रह गये। वरना, कोई तो इस पर रोता-धोता, यदि कुछ और न कर सकता। ऐसे ठस देसी नेताओं की तुलना में अंग्रेज शासक हमारे लिए देवदूत थे! जिन्होंने सुदूर देहातों तक में प्लेटो, शेक्सपीयर, वाल्टेयर और गिबबन जैसी अपनी सर्वोत्तम सामग्री से भारतीय पीढ़ियों का मानसिक, बौद्धिक पोषण, संवर्धन, प्रोत्साहन किया था।

जबकि हमारे लोग शिक्षा में मुख्यतः नेता-प्रचार, पार्टी-बंदी, मतवाद फैलाते रहे हैं। उसी क्रम में, 'इंडियन नॉलेज' भी डंके सा पीट रहे हैं। इस में ज्ञान की सुगंध या आभा कम ही है। जितना सत्य है भी, वह नारे वाले अहंकार से दबा रहता है। ज्ञान पीछे रह जाता है और हम इंडियन 'ऊँचे नॉलेज वाले', जबकि पश्चिम स्वार्थी, दुष्ट, आदि — यह ध्वनि पूरे आई.के.एस. डंकावादन में अधिक तीव्र है।

तब 'विद्या ददाति विनयम्' का क्या होगा, जब आई.के.एस. पर बोलने वाला तैश में लहराता और घमंड से इतराता नजर आए? इस प्रोपेगंडा में विद्वान इक्के-दुक्के दिखते हैं, जो कुछ ढंग की बातें करते हैं। बाकी अधिकांश बस जोश दिखाते, कुछ श्लोकों की तोतारटंत तथा निरापद लोगों एवं अप्रासंगिक विषयों पर छींटाकशी करते रहते हैं।

जिन के हाथ में सत्ता, साधन, संस्थान भी हैं, वैसे महानुभाव भी बस कोसते ही रहते हैं! बरसों, दशकों से यही उनकी स्थाई अदा है। सब कुछ हाथ में लेकर भी कोसना, व्यंग्य करना और डींग हाँकना ही 'भारतीय ज्ञान' की गतिविधि बना दी गई है। इसीलिए, सामने खड़ी शैक्षिक समस्याएं उन आयोजनों में कभी विचारणीय नहीं होती। जैसे, अयोग्यता के आरक्षणों की बढ़ती भरमार, उसके परिणाम, शिक्षा-परीक्षा की गुणवत्ता का पतन, अनेक विषयों में उच्च डिग्रीधारियों की वास्तविक जानकारी से दूरी, नियुक्तियों में भ्रष्टाचार, आदि। यह सब बदतर हो रहे हैं, पर अपने को 'विश्वगुरु' कहने की शेखी बढ़ रही है।

इस प्रकार, शिक्षा में राजनीतिक चालबाजियाँ सर्वोपरि हो गई है, जिस में विद्या और विद्यार्थी ही ध्यान से बाहर हैं। अब अधिकांश खर्चीले सेमिनार, व्याख्यान उन जुमलों पर होते हैं जो नेता आए दिन देते रहते हैं! क्या अंग्रेजी राज में यहाँ शिक्षा संस्थानों में ऐसी फूहड़ता कभी नोट की गई थी?

बहरहाल, किसी मूल्यवान ज्ञान, संस्था या व्यक्ति को भी नारे लगवा कर अपनी महानता बताने की जरूरत नहीं होती। ऑक्सफोर्ड या हार्वर्ड को, या ट्विटर या टाटा को जगह-जगह भाषण आयोजित कराने की जरूरत नहीं हुई कि वह 'महान' है। इसलिए, 'इंडियन नॉलेज' का नारा उलटे दिखाता है कि मामला गड़बड़ है।

निस्संदेह, भारतीय सभ्यता कभी महान थी, पर हजार सालों से भी अधिक समय से वह जिस हाल में गई और अभी जो है उस में गर्व करने के लिए क्या है? उपनिषद, गीता, योगसूत्र, आदि आध्यात्मिक ज्ञान हैं, वह भी हजारों वर्ष पहले का। तक्षशिला या मौर्य साम्राज्य भी सदियों पहले की स्मृतियाँ हैं, जिन में भी अनेक को विस्मृति से निकाल सामने लाने का काम विदेशियों ने किया। वह करने की हमारी क्षमता ही नहीं थी। सो, बाह्य ज्ञान में हम सदियों से सिफर थे और आध्यात्मिक ज्ञान को हम ने खुद शिक्षा से बाहर रखा हुआ है! तब आज का 'इंडियन' किस बात पर इतरा कर दूसरों को हीन बताना अपने 'नॉलेज' की श्रेष्ठता मानता है?

जिस नालंदा, तक्षशिला, कई मूल्यवान ग्रंथों और महान शासकों पर हम गर्व करते हैं – वह जिन लोगों ने खोज कर दिए, उन्हीं की भर पेट निन्दा ही इस नई रटंत का सिग्नेचर ट्यून है! यहाँ बौद्धिक चर्चाओं में यदि विलियम जोन्स, होरेस हेमन विल्सन, जॉन मार्शल, जेम्स मिल, अलेक्जेंडर कनिंघम, मैक्स म्यूलर, विन्सेंट स्मिथ या फिट्ज एडवर्ड हॉल का कभी उल्लेख होता भी है – तो प्रायः द्वेष के साथ, जबकि यही वे महापुरुष हैं जिन्होंने विकट परिश्रम और जीवन

लगाकर भारतीय इतिहास के असंख्य गौरव स्थलों और लुप्त ग्रंथों को खोज निकाला! जो इतिहास की मिट्टी में गहरे दफन हो चुके थे। हमारे लिए यह पूरे विषय ही—हिस्टोरियोग्राफी और आर्कियोलॉजी—यूरोपीय देन हैं। दो सौ साल पहले पूरा भारत ‘हिस्टरी’ विषय से अनजान था! इस का विराट अर्थ समझना चाहिए।

सो, हमें हमारा अपना इतिहास-ज्ञान ही यूरोपियन देन है, तब हम किस ‘परंपरा’ का दावा, किस बूते करते हैं – यदि यहाँ इतिहास विवरण था ही नहीं? अतः यह सारी घमंडी ‘राष्ट्रवादी’ लनतरानियाँ बस सवा सौ साल पहले शुरू हुई हैं। वह भी अंग्रेजी राज से मिली सुरक्षा, सुविधा, शिक्षा और अभिव्यक्ति स्वतंत्रता के बल पर! वरना, 1206 से 1707 ई. तक हमारी बोली अपने ही देश में कहाँ गुम रही? उन सदियों में हमारे पास कौन सी ‘राष्ट्रीय’ संस्था, रचना या संगठन था?

भाग-2

‘राष्ट्रवादी’ देसी शासकों ने शिक्षा को बनाया बाँझ

12 मार्च 2026

अंग्रेजी राज से पहले, भारतीय परिदृश्य में सदियों से अधिकांश समाज के उत्पीड़न, अपमान और लाचारी की मौखिक टूटी-फूटी कथाएं, और बाकी सन्नाटा है। उन सदियों से पहले के भारतीय विवरणों को भी पश्चिमी विद्वानों ने खोजा, पर उन्हें लांछित करके ही हमारे बौद्धिक अपने ‘ज्ञान’ का घमंड करते हैं। मानो, प्लेटो या शेक्सपीयर को मामूली बताकर ही हम भर्तृहरि या तुलसीदास के प्रेमी हो सकते हैं!

यह मूढ़ प्रवृत्ति स्वतंत्र भारत में गत सौ सालों से ‘राष्ट्रवाद’ के नाम से चल रही है। इसका मुख्य स्वर **आत्म-श्लाघा** और **परनिन्दा** है। इस में आकंठ डूबे लोग अपने मनीषियों की बातें भी ठुकराते हैं, यदि वह दलबंदी अनुकूल न हो। खोज देखिए: टैगोर, श्रीअरविन्द, अज्ञेय, महादेवी जैसे आधुनिक मनीषियों के सामाजिक विचार हमारे बौद्धिक आयोजनों में कब सुने गये हैं?

इसीलिए मैक्स म्यूलर या मैकॉले को भी बुरा-भला कहने वाले अधिकांश प्रवाचक उनके काम व लेखन से अपरिचित हैं! वे इस से भी लापरवाह हैं कि विवेकानन्द जैसे ज्ञानी ने मैक्स म्यूलर को ‘ऋषि’ कहा था, उन से मिलने गये, उन पर श्रद्धापूर्ण लेख लिखा। पर आज ‘इंडियन नॉलेज’ की बातें करने वाले अनेक लोग मैक्स म्यूलर का नाम ऐसे लेते हैं जैसे वह कोई बदमाश-उचक्का रहा हो। उस ‘स्कॉलर एक्स्ट्राऑर्डिनरी’ के बारे में ऐसे बोलना ही ‘राष्ट्रवाद’ है!

इस विवेक-विरुद्ध प्रवृत्ति के कारण ही टैगोर जैसे संवेदनशील कवि ने नेशनलिज्म के विरुद्ध कठोर चेतावनियाँ दी थी। उन्होंने कहा था: “राष्ट्रवाद हमारा अंतिम आध्यात्मिक ध्येय नहीं हो

सकता। मेरी शरणस्थली तो मानवता है। मैं हीरों की कीमत पर शीशा नहीं खरीदूँगा और जब तक मैं जीवित हूँ देशभक्ति को मानवता पर कदापि विजयी नहीं होने दूँगा।” उन्होंने सही कहा था। ‘नेशनलिज्म’ हाल में पैदा हुई संकीर्णता है। इस में दूसरों से दुराव बनाने के लिए देशभक्ति का दुरुपयोग होता है। राष्ट्रवाद का ही दूसरा पहलू दलवाद है — मेरा दल देशभक्त और दूसरे देशद्रोही। वरना ज्ञान के क्षेत्र में राष्ट्रवाद, दल, संगठन, ‘अपना’ और ‘पराया’ की बातें बेमतलब हैं!

ज्ञान, साहित्य, कला, और साइंस — यह सब मानवता के निस्सीम क्षेत्र हैं। इस में प्रेम व श्रद्धा से लगे लोग सदैव पूरी मानवता के रहे हैं। खोज देखिए — उपनिषद, योगसूत्र या गीता में कहाँ है ‘राष्ट्रवाद’? या प्लेटो, अरेलियस या गालिब में? मोजार्ट, चायकोवस्की या वान गॉग में? यानी, केवल अपने देश को श्रेष्ठ और दूसरों को हीन समझना?

जबकि भू-भागों का राजनीतिक रूप बदलती चीज है। भारत में ही अस्सी साल पहले लाहौर हमारे राष्ट्रवाद में शामिल था। आज हमारे ‘राष्ट्रवादी’ कब लाहौर का नाम लेते हैं? सो, **राष्ट्रवाद एक संकीर्ण, गिरगिट्टी और प्रायः दिखावटी चीज भी है।** यह आज हमारे ‘राष्ट्रवादी’ गुट के कारनामों से भी देख सकते हैं।

इसीलिए, पूरे विश्व के सभी चिंतक और कलाकार सत्य, ज्ञान, कला, गुण, चरित्र, सौंदर्य आदि को भौगोलिक सीमाओं से परे मानते हैं। यह सब देवताओं का क्षेत्र है। यही समझ शिक्षा की भी पहली सुनहरी ईंट है। यहाँ से शिक्षा आरंभ होती है।

तभी तो उन यूरोपीय विद्वानों ने भी भारत की महान धरोहरों और साहित्य की खोज में जीवन लगा दिया! वे ज्ञान व सौंदर्य के प्रेमी थे। उन्होंने ऐतिहासिक भारत को पुनः जोड़ कर खड़ा किया, जिसे सदियों के इस्लामी विध्वंस ने मिट्टी में मिला दिया था। **भारतीय अतीत के असंख्य गौरवशाली अध्यायों, कृतियों, महापुरुषों को विश्व के सामने लाने का श्रेय यूरोपियनों को है।** सम्राट अशोक जैसे शासक का विवरण भी दो सौ वर्ष पहले तक किसी भारतीय स्रोत में नहीं मिलता।

वस्तुतः 1817 में जेम्स मिल की ‘हिस्टरी ऑफ ब्रिटिश इण्डिया’ से पहले यहाँ इतिहास की कोई व्यवस्थित पुस्तक नहीं लिखी गई। पौराणिक गाथाओं — उसे वास्तविक या काल्पनिक जो मानें — के सिवा हमारे पास कोई विवरण न था। डेढ़ सौ वर्ष पहले तक किसी भारतवासी के लिए प्राचीन तक्षशिला अथवा इन्द्र की अलकापुरी — एक जैसी काल्पनिक या सुनी-सुनाई चीज थी। उनके बारे में कोई कुछ भी माने या न माने, उसके अस्तित्व, स्थान, काल का प्रमाण यहाँ नहीं था।

सो, हमारे अतीत के बारे में ग्रीस, चीन, अरब, वेनिस, फ्रांस, मोरक्को, आदि कहीं बाहरी स्रोतों में जो छिट-पुट विवरण उपलब्ध थे, उन्हें खोज, निकाल, अनुवाद, शोध, छान, मिलान आदि कर के यूरोपियनों ने सामने लाया। जिस से ही भारतीय नेताओं व

लेखकों को अपने देश के प्रति एक नये अभिमान की अनुभूति हुई! वरना इस्लामी आक्रांताओं के हाथों सदियों दुर्गति व अपमान झेलते रहने के बाद आम हिन्दुओं में कुछ आत्म नहीं बच गया था। हिन्दुस्तान को इस्लामी साम्राज्य का अंग माना जाता था। 18वीं सदी तक हिन्दू सभ्यता मरणासन्न हो चुकी थी। जिस में फिर संयोग से अंग्रेजी राज ने ही प्राण लौटाए! अतः आज भारत जो भी है, उस का बड़ा श्रेय अंग्रेजों को है।

इसे परख कर देखें। भारतीय अतीत की खोज के अतिरिक्त, ठोस जन-जीवन को भी अंग्रेजों की भौतिक, सामाजिक देन अतुलनीय है। आज हमारा संपूर्ण बाह्य जीवन ही ब्रिटिश विरासत है। उदाहरण: 1. भारत की राजनीतिक एकता; 2. सैनिक व सुरक्षा तंत्र, उसकी प्रशिक्षण व्यवस्था; 3. प्रशासनिक, पुलिस, न्यायिक तथा स्थानीय स्वशासन तंत्र; 4. निर्वैयक्तिक राजकर्मचारी तंत्र, लोक सेवा आयोग; ऑडिट; 5. अभिव्यक्ति स्वतंत्रता, मताधिकार, और कानूनी-संविधानिक व्यवस्था; 6. अखिल भारतीय मुद्रा, डाक, रेलवे, आधुनिक संचार; तथा 7. शिक्षा, पुस्तकालय, विश्वविद्यालय, संग्रहालय, अखबार, पत्रिकाएं, गजेटियर आदि तक की पूरी सार्वजनिक व्यवस्था; अनेक नये अध्ययन विषय, परीक्षा प्रणाली, सारी डिग्रियाँ, प्रमाणपत्र, अवार्ड, स्कॉलरशिप; तथा 8. आधुनिक घर, फ्लैट ही नहीं, शौचालय तक से परिचय व डिजाइन तक, एवं अनेकानेक खेल, मनोरंजन, आदि भी यहाँ ब्रिटिश देन है।

उपर्युक्त चीजें हमारे पास पहले या तो बिल्कुल न थी, या कुछ थीं भी, तो पूरे समाज के लिए नहीं थी। उक्त व्यवस्थाओं में एक-एक, जो हमें बड़ी सामान्य लगती है, और सुबह से शाम तक सभी भारतवासियों द्वारा उपयोग में आती है — उन में किस चीज को किसी भी ब्रिटिश-पूर्व ‘इंडियन’ चीज, या इंडियन ‘सिस्टम’ से बदला जा सकता है?

उक्त सभी सामान्य लगने वाली व्यवस्थाएं बहुत बड़ी देन हैं — इतनी मूल्यवान कि किसी को भी छोड़ना कोई भारतीय सोच भी नहीं सकता! लेकिन यह सब देने वाले ब्रिटिश शासकों, विद्वानों, आदि के बारे में गत सौ सालों से हमारे नेताओं ने हमें केवल अपशब्द सिखाया है! आधुनिक यूरोप की उदारवादी, वैज्ञानिक, मानवतावादी, मुक्त परंपरा से सीखकर उसी भावना में आगे बढ़ना तो दूर रहा! यही राष्ट्रवाद है। क्या यह कोई ‘नॉलेज’ है?

सोचें, यदि वह ब्रिटिश शिक्षा, संवैधानिक व्यवस्था, अभिव्यक्ति स्वतंत्रता, निर्वैयक्तिक नौकरशाही, आम चुनाव, पेनल कोड, स्कूल, विश्वविद्यालय, संग्रहालय, आदि अनुपयुक्त होते, और किन्हीं भी मध्ययुगीन या प्राचीन भारतीय ‘व्यवस्था’ (यदि किसी को मालूम हो कि वह क्या थी!) को पुनः अपनाने से काम चल जाता — तो यह ‘उपनिवेशवादी’, ‘मैकॉलेवादी’ व्यवस्था हट जाती। कोई भी बेहतर छोड़ कमतर नहीं चुनता।

पर जो लोग मैकाले को कोसते और ‘इंडियन नॉलेज’ का डंका पीटते हैं, वही दूसरी साँस में भारतीय इंजीनियर, डॉक्टर और टीचर ‘एक्सपोर्ट’ करने की डींग भी हाँकते हैं। जबकि ऐसे

भारतीय मैकाले-शिक्षा, यानी अंग्रेजों की देन हैं! इसी तरह, जो ‘वसुधैव कुटुंबकम्’ बोल कर फूलते हैं, वही अमेरिका और यूरोप को नीच बताते हैं। ऐसे प्रचारक अपनी ही दो बातें जोड़कर विचारने में असमर्थ हैं — कि उस में क्या संगति है?

इसीलिए उनके गढ़े हुए ‘हिन्दू स्टडीज’, ‘इंडियन नॉलेज’ आदि बचकाने मुहावरे हैं। महान साहित्य को पढ़ने-पढ़ाने की सीधी, सच्ची और प्रेमपूर्ण व्यवस्था करने के बदले मुहावरे गढ़ना और हाँकना — यह ज्ञान के नाम पर प्रोपेगंडा है। दलबंदी का विकास, पर शिक्षा का हास।

यह पतन इस से भी साफ दिखता है कि **स्वतंत्र भारत के लगभग अस्सी सालों में यहाँ शायद ही कोई नयी ऐतिहासिक या वैज्ञानिक खोज हुई। उस तरह की मौलिकता अंग्रेजों के जाते ही जाती रही!** जितनी खोज, जितना प्रशिक्षण, भारतीय जिज्ञासुओं को अंग्रेजी राज ने दिया था, वह परंपरा 1960 का दशक जाते-जाते सूख गई। सर जदुनाथ सरकार, रमेश चंद्र मजूमदार, नीलकंठ शास्त्री, सी.वी. रमन, जैसे ब्रिटिश-प्रशिक्षित मौलिक इतिहासकारों, विद्वानों, वैज्ञानिकों की श्रेणी ही लुप्त हो गई! इस प्रकार, ‘राष्ट्रवादी’ देसी शासकों ने हमारी शिक्षा को तुरत बाँझ बना दिया! उसी विकास क्रम में यह नया चलन है कि बिना इतिहास पढ़े-पढ़ाए अपनी ज्ञान-परम्परा का झंडा लहराना सिखा दिया जाए! अब शैक्षिक दस्तावेज में ‘इतिहास’ विषय ही लुप्त है।

अतः अनायास नहीं कि जिन वर्षों से ‘इंडियन नॉलेज’ का ढोल पीटा जा रहा है, किसी भी ज्ञान-ग्रंथ का नाम नहीं आया, जिसे नए सिरे से कोई महत्व या स्थान दिया गया हो। सो, कोई ज्ञान नहीं, बल्कि यह प्रोपेगंडा करने-कराने वाले ही महत्व, स्थान, आदि ले रहे हैं।

भाग-3

शिक्षण संस्थाओं में अब भाईसाहबों का बोलबाला

13 मार्च 2026

इस परिदृश्य की तुलना उस शिक्षा से करें जो ब्रिटिश शासकों ने सौ साल तक चलाई। तब की उपलब्धियों, अन्वेषणों, संस्थानों, आदि की तुलना उस मध्ययुगीन दुर्गति से भी करें जो अंग्रेजों से पहले यहाँ सदियों होती रही। तब अंग्रेजी राज की सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक देन का सही रूप मिलेगा। अंग्रेजी राज में बने भारतीय लेखकों, कवियों, वैज्ञानिकों, विचारकों, तथा साहित्य, पत्र-पत्रिकाएं, पुस्तकालय, विश्वविद्यालय, संग्रहालय, संस्थानों, कानूनों आदि की ठोस आमद से भी वह तुलना करें।

ब्रिटिश जमाने में भी कष्टप्रद बातें थीं, जिन की भारतीय और ब्रिटिश, दोनों तरफ के लेखकों ने आलोचनाएं की थीं। पर एक तो हम यह कर ही तब सके जब हम में कुछ जान आई, हमें बोलने की छूट और मंच मिले। दूसरे, ब्रिटिश व्यवस्था की गुणवत्ता,

कथनी-करनी सामंजस्य और उनकी निष्ठा में किसी को संदेह न था, जबकि उनके बाद, अपने देसी दस्तावेज, घोषणाएं, नियुक्तियाँ, आकलन, अवार्ड — कहीं भी कथनी-करनी या मूल्यवत्ता का तालमेल बिठाना क्रमशः बेढब होता गया।

आज गये-गुजरे व्यक्ति भी 'राष्ट्रीय' सम्मान पा सकते हैं। प्रवेश परीक्षा में जीरो नंबर लाने वाले भी उसी तरह के माशाअल्लाह डॉक्टरेट बनकर, प्रोफेसर, वाइस-चांसलर और उस से भी ऊपर बैठ सकते हैं! सिलेबस, डिग्री या किसी नये प्रोजेक्ट का कोई ठोस उद्देश्य लिखना भी अब जरूरी नहीं समझा जाता। 'नीति' दस्तावेज तक छापे नहीं जाते! तब उनकी उपलब्धि-परीक्षण क्या?

ऐसा कुछ भी ब्रिटिश काल में न था। तब केवल गुण और योग्यता को प्रोत्साहन था। हर खर्चे का हिसाब और कैफियत रहती थी। हर निर्माण का उद्देश्य स्पष्ट लिखा होता था। सर्वोच्च स्तर तक किसी भी गलती/विफलता की जिम्मेदारी और दंड मिलना निश्चित था। अब? बड़ी-बड़ी भूल और पॉलिसी डिसास्टर तक पर पर्दा डाल दिया जाता है। बड़े-बड़े अपराधी दलीय वाशिंग मशीन में धुल जाते हैं। क्या 1947 से पहले ऐसा कुछ भी था?

यहाँ 1920 के लगभग वह राष्ट्रवाद आरंभ हुआ जिस ने ज्ञान और विवेक पर ही तेजाब डालना शुरू कर दिया। नीरद सी. चौधरी के शब्दों में **हमारे नेताओं ने इतिहास-ज्ञान की देवी ('क्लियो') को बाजारू बना दिया, जो राष्ट्रवादी आंदोलन के 'हरम' से निकली थी। धीरे-धीरे इतिहास देवी को राष्ट्रवादी नेताओं ने रखैल ('अदालिस्क') का रूप दे दिया। इन कठोर शब्दों से वह तीव्र अनुभूति समझें जो नीरद बाबू को हुई थी! यानी, राष्ट्रवादी नेताओं ने इतिहास झुठलाया और मनगढ़ंत फैलाया। गाँधीजी ने इस की शुरुआत की, जब मुसलमानों को पटाने के लोभ में पूरे मुस्लिम शासन-काल के भयंकर इतिहास पर गुलाबी पर्दा डाल दिया! यह इतिहास-ज्ञान की देवी को 'रखैल' बनाने का ही उदाहरण था।**

यही राष्ट्रवादी बौद्धिकता थी, जिस के बढ़ने से सत्य से दूरी, यानी अज्ञान बढ़ा। मिथ्याडंबर, द्वेष, पार्टी-बंदी, अवसरवाद और कुर्सीलोभ फैला। विवेक-विचार की चेतना, जिम्मेदार भावना, सच्चे अन्वेषण की प्रवृत्ति कमजोर होते-होते अब लुप्तप्राय हो चुकी है। **आज स्कूलों, विश्वविद्यालयों से लेकर अकादमी, यूजीसी, आदि हर कहीं वही मिथ्याचार, द्वेष, लोभ, दलबंदी भरी जा रही है।** शिक्षा, शोध, चिंतन, रचनात्मता, तथा नीतियों की दयनीय दशा उसी का फल है। इसीलिए स्वतंत्र भारत में कोई जदुनाथ सरकार, जगदीश चन्द्र बोस, निराला, सुभद्रा कुमारी चौहान या 'अपना' मैकॉले भी नहीं हुआ। जबकि शिक्षितों की संख्या, विश्वविद्यालय तथा संसाधन और सुविधाएं बेहिसाब बढ़ गई हैं।

बल्कि, पहले उतने बंगाली व पंजाबी चिंतक, वैज्ञानिक, लेखक-कवि, कलाकार हुए — उस में भी अंग्रेजी राज के केंद्रों से निकटता है: कलकत्ता, लाहौर। आज किस देसी सत्ता केंद्र के निकट कैसे लोग बन रहे हैं? स्वयं हमारे नेता, ब्रिटिश राज के पढ़े हुए, अधिकांश लोग

इन्टेलेक्चुअल, एडीटर, राइटर भी होते थे। संविधान सभा के नेताओं की तुलना आज संसद के नेताओं से कर लें।

यही राष्ट्रवादी विकास है। अर्थ-व्यापार में उन्नति हुई, क्योंकि उस की चिन्ता की गई। परन्तु शिक्षा-संस्कृति का हास हुआ, क्योंकि उसे दलबंदी व प्रोपेगंडा के हवाले कर दिया गया। फलतः अब नारेबाजी ही सामाजिक शिक्षा का आदि-अंत है। आज जैसे असंख्य अबोध प्रवाचक या शैक्षिक-संचालक भारतीय संस्थानों में पूरे ब्रिटिश राज के दौरान अपवादस्वरूप ही मिलें!

सो, यह 'आई.के.' भी राष्ट्रवादी हरम से निकली वैसी ही बंधुआ दासी और रंगी-पुती पोस्टर से अधिक कुछ साबित न हो (जैसे पीछे 'सोशलिज्म' और 'सेक्यूलरिज्म' दासियाँ थीं), और दस वर्ष बाद इसे फेंक कर कोई नया नारा आए, तो आश्चर्य नहीं। स्वतंत्र भारत की वैचारिकी, सोशल साइंसेज और ह्यूमैनिटीज, एक प्रोपेगंडा से दूसरे प्रोपेगंडा का हल्ला रहा है। जब जिस शासक-नेता की जो झक हो, वह शिक्षा का ध्रुवतारा हो जाती है। सच्चे ज्ञान से हमारा रिश्ता दूर से दूरतर होता गया है।

ब्रिटिश राज में ठीक उल्टा था! तब ज्ञान और योग्यता की कद्र थी। सारा 'रिजर्वेशन' उसी का था। फौज, प्रशासन, निर्माण से लेकर विद्वता तक, केवल योग्यता की पूछ थी। फलतः उन्नति का मार्ग सब के लिए खुला था; कोई बाधित न था। यह ब्रिटिश राज के पहले की छः सदी और उस के बाद के आठ दशक से तुलना करके देख सकते हैं। ठोस पैमानों पर तुलना — न कि 'उपनिवेशवाद', 'गंगा-जमुनी तहजीब' और 'भारत माता' वाली लफ्फाजी से! फिर देखें — कौन भारतीय जन-गण का सच्चा हितैषी साबित हुआ? किस ने हमारे गुणों को, हमारे चरित्र, हमारी क्षमताओं को उभारने, बनाने, सँवारने में सहायता दी?

हमारी हालिया स्थिति कवि अज्ञेय ने नोट की थी। उन्होंने पाया था कि हमारे नेता वे हैं, "जिन को हमारे कहीं पहुँचने में, या हमारे चलने में या हमारी टाँगें होने या हमारे जीने में कोई दिलचस्पी नहीं है।" यह भी, कि जब देश एक था तब 'राष्ट्रीय एकता' की बातें नहीं होती थी। जब एकता नहीं रही, खुद तरह-तरह की फूट डाली जाने लगी, तब उस का नारा लगता है।

उसी तरह, जब ब्रिटिश राज में सचमुच ज्ञान का आदर था तब 'नॉलेज सिस्टम' की लनतरानी नहीं होती थी। अब चूँकि ज्ञान का आदर नहीं, केवल नारों का बोलबाला है, तब यह 'नॉलेज' की विरुदावली दलबंदी विशेषज्ञों ने चलाई है, जो एक को दूसरे से लड़ा, डरा, द्वेष फैला कर केवल वोट की फसल पकाते रहते हैं।

अतः ज्ञान की प्रेरणा, उस की व्यवस्था, बच्चों व युवाओं को महान साहित्य से जोड़ने के लिए सुंदर उपाय करने के बदले 'आई.के.' प्रोपेगंडा उसी चलन का अंग लगता है। यह प्रचार कि अब तक दूसरों ने तो 'मैकॉले की चाकरी की, अब हम विश्वगुरु बन रहे हैं।' जबकि गत वर्षों में पूरी शिक्षा तो क्या, किसी विशिष्ट अकादमिक संस्था को भी ज्ञानियों को चलाने नहीं दिया गया। हर कहीं दलीय भाईसाहब बगल से, यानी गैर-जिम्मेदार तरीके से, उसे रपेट रहे हैं। दलीय

और निजी लाभ के लिए पदों, संसाधनों की बंदरबाँट हो रही है। युवा प्रतिभाएं जाने-अनजाने बर्बाद की जा रही हैं। विवेकी मनुष्य के बदले मानव-तोते बन रहे हैं।

इस क्रमशः दुर्गति का ही फल है कि अब भारत में एक भी बौद्धिक, साहित्यिक मंच, पत्रिका नहीं जो देश में भी जानी जाती हो। यह शिक्षा को दलबंदी के हवाले करने से हुआ। अंग्रेज शासक शिक्षा संस्थानों के लिए भारत या बाहर से भी केवल विद्वानों को ही खोज कर लाते थे, जबकि देसी शासक अकादमिक कुर्सियाँ भी प्रायः दलीय कारकूनों, मुंशियों, और वोटार्थ आरक्षितों को थमाते हैं।

सो, जब भारत में सच्चे अध्ययन, तथा सांस्कृतिक, रचनात्मक चेतना व प्रतिभा को ग्रहण लगाना आरंभ हुआ तब से तरह-तरह के नारे सर्वोपरि होने लगे। उसी से धौंस जमाने की भी कोशिश की जाती है, मानो, 'शान्ति', 'अहिंसा', 'पंचशील', 'समरसता', 'विश्वगुरु', 'विकसित भारत', आदि शब्दों से ही सब प्रभावित हो जाएंगे!

यही है अपने ही नारे से अपना माथा चकरा लेना, जो गत सौ साल से चल रहा है। यह राजनीतिक, शैक्षिक क्षेत्र में अधिक प्रभावी है। नारे भीड़-राजनीति के लिए मुफीद रहे हैं। जैसा सौ साल पहले, वैसे आज। पंडाल में लप्फाजी कर के, भोली भीड़ से ताली बजवा कर, तथ्य-विवेक पर बल देने वाले लोगों को किनारे कर देना। फिर अपनी ऊटपटाँग चलाना।

तभी से, इतिहास ही नहीं सामाजिक, मानविकी शिक्षा के हर विषय पर लप्फाज 'राष्ट्रवाद' और दलवाद का ग्रहण लगता गया। अब वह गिर कर गुटवाद, भाईसाहबवाद तक आ गया है। यदि सारे संसाधन, संस्थान, आदि के सूत्र अपने हाथ ले चुके नेता सदैव दूसरे नेताओं, दलों को नीचा दिखाने, मिटाने, और इस के लिए कुछ भी करने की जुगत में लगे दिखते हैं तो उन्हें संस्कृति की चिन्ता के लिए समय क्या, मनोभावना भी कितनी बचेगी? उनकी कथनी, करनी, भंगिमा, प्रस्ताव, फैसले, परिणाम, आदि से कुछ संकेत नहीं मिलता।

शोधार्थियों को 1915 से पहले की भारतीय मनीषा की भाषा, मनोभाव का सही आकलन करना चाहिए। वह बाद वाले राष्ट्रवादी दौर की भावना से भिन्न थी। **पहले हमारे लोगों में यूरोपीय ज्ञान, उस की देन, आदि से विवेक पूर्वक सीखने, और तदनुरूप ऊपर उठने का प्रयत्न करने की भावना थी। उस विवेकशील और रचनात्मक भावना को ठोकर मार कर राष्ट्रवादी-पार्टीवादी मनोवृत्ति ने उलटा कर दिया! आज शिक्षण संस्थाओं में विद्वानों के बदले भाईसाहबों का बोलबाला उसी की परिणति है। इस बुनियादी हानि की भरपाई कोई आर्थिक आँकड़े नहीं कर सकते, सावधान!**